Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 SHISRRJ | Volume 2 | Issue 5 | ISSN : 2581- 6306

आत्मकथा की संस्कृति और जीवन का श्मशान हो जाना

डॉ. अनुराग मिश्र
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग, का.सु.साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
अयोध्या, उत्तर प्रदेश,भारत।

शोधसार : आधुनिक हिंदी साहित्य की गद्य–विधाओं में आत्मकथा लेखन की एक अपनी विशिष्ट भूमिका है। वस्तुपरक तटस्थता और आत्मपरक ईमानदारी के प्रतिमानों से होकर गुजरते हुए समकालीन विमर्शों के रूप में यह विधा बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में अपनी अब तक की सर्वोच्च ऊंचाई का स्पर्श करती है। आत्मकथाओं के माध्यम से दलित विमर्श ने हिंदी साहित्य के लेखन और संस्कृति की चली आ रही अवधारणाओं में प्रभावी हस्तक्षेप किया है। अस्मितामूलक विमर्श को निर्मित करने में दलित आत्मकथाओं की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण है. विगत तीन दशकों की दलित आत्मकथा लेखन की परंपरा में 'मुर्दहिया' का प्रकाशन एक युगांतकारी घटना है जिसने संवेदना, भाषा और सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों में रैडिकल परिवर्तन उपस्थित किया है. आरंभिक दलित लेखन के अंतर्विरोधों, उसकी सीमाओं और सामाजिक परिवर्तनों के रूपाकारों को समझने की दृष्टि से प्रस्तावित विषय अध्ययन का एक विचारोत्तेजक सन्दर्भ–बिंदु हो सकता है।

बीजशब्द : आत्मकथा, विमर्श, अस्मितामूलक विमर्श, सौंदर्यशास्त्र, सबाल्टर्न इतिहास लेखन।

आधुनिक काल के गद्य–विधाओं के स्वरूपगत विकास में आत्मकथा–लेखन की एक अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक भूमिका रही है। एक विधा के रूप में इसकी विशेषता यह है कि यह व्यक्ति के आत्मगत जीवन के तथ्यात्मक व्योरों से अधिक उसके विश्लेषण व मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त होती है। इस रूप में एक श्रेष्ठ आत्मकथा की कसौटी ही यह हो जाती है कि वह लेखक के अपने जीवन से अधिक उस समाज का मूल्यांकन हो जिससे वह प्रतिकृत होता है और जिसमें उसके सामाजिक संघर्ष की सच्चाईयाँ अपने समग्र और वास्तविक रूप में प्रकट होती हों। अर्द्धकथानक से लेकर समकालीन दलित आत्मकथाओं तक की जो परंपरा है, उसमें लेखन की प्रवृत्तियों में आये हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों को देखा जा सकता है। समकालीन दलित लेखन ने हिंदी साहित्य लेखन को अंतर्वस्तु व रूप–चेतना के स्तर पर गहरे तक प्रभावित किया है। जूठन

से मुर्दहिया तक की यात्रा में लेखन के स्वरूप में आए परिवर्तनों को लक्ष्य किया जा सकता है। दया पवार की अनूदित आत्मकथा 'अछूत', प्रो. तुलसीराम की 'मुर्दहिया', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय का 'अपने अपने पिंजरे', किशोर शांताबाई काले का 'छोरा कोल्हाटी का', कौशल्या बैसंत्री का 'दोहरा अभिशाप', अनिल अवचट का 'हम भी जिन्दा हैं',माता प्रसाद का 'झोपड़ी से राजभवन', सूरजपाल सिंह चौहान का 'तिरस्कृत' रमणिका गुप्ता की 'हादसे' और सुशीला टाकभोरे का 'शिकंजे का दर्द' आदि आत्मकथाओं ने दलित लेखन का एक समृद्ध वैचारिक परिदृश्य निर्मित किया है।

समकालीन हिन्दी दलित–लेखन में डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' का दलित–संवेदना को एक नये सैद्धान्तिक व आनुभविक वैशिष्ट्य के स्वरूप में ढालने के सन्दर्भ में अपना एक विशेष महत्त्व है। 'मुर्दहिया' तक आते–आते हिन्दी की दलित आत्मकथा ने विकास का एक चक्र पूरा कर लिया है। 'मुर्दहिया' का प्रकाशित होना दलित–समाज व लेखन की एक विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धि है जहाँ दलित–लेखन अपने कथित संवेदनात्मक खुरदुरेपन और शैलीगत अपरिपक्वता की लांछना को एक झटके में उतार फेंकता है। बेहद संवेदनशील मन के साथ लिखी गयी यह आत्मकथा एक ओर तो दलितों के जीवन की व्यापक सामाजिक–आर्थिक दुरवस्था को बहुत मार्मिक ढंग से सामने रखती है, तो दूसरी ओर, यह सामाजिक ताने–बाने के भीतर उस 'स्पेस' को भी खोलती है जिसमें एक प्रतिभाशाली दलित के लिए विभेद की संरचना को थीड़ा लचीला बनाते हुए आर्थिक और सामाजिक प्रोत्साहन का वातावरण अपने आप ही सामने आ जाता था। शिक्षा, स्वास्थ्य और जीवनयापन की बुनियादी सुविधाओं से वंचित एक बड़ा सामाजिक वर्ग किस तरह घिसट–घिसंट कर आगे बढ़ रहा था, इसके स्तब्ध कर देने वाले ब्योरे मुर्दहिया में मिलते हैं – ''मैं भी अन्य बच्चों के साथ टिन की बाल्टी तथा झाड़ू लेकर जाता और झाड़ू से चूहों को मार–मारकर बाल्टी भर जाने पर उन्हें घर लाता। इन चूहों को पहले घर के लोग रहट्ठा यानी अरहर का डंठल डालकर उस पर खूब सेंकते थे। इस तरह चूहों के बाल बिल्कुल जल जाते थे। इसके बाद साफ करके बोटी–बोटी काट दिया जाता, फिर मसाला डालकर उसका मांस पकाकर खाया जाता था। इस तरह के मैदानी चूहों का मांस बहुत स्वादिष्ट होता था। इन बरसाती कड़की के दिनों में इस प्रकार के चूहे जब तक उपलब्ध रहते, सभी दलित दाल–सब्जी के बदले उन्हीं से गुजारा करते थे।''[1] यह ही कारण है कि यह केवल लेखक की आत्मकथा न होकर धरमपुर की दलित बस्ती के सभी पीड़ितजनों की आत्मकथा हो जाती है जिसके बारे में लेखक को विश्वास भी है कि यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक मुर्दहिया ही होता।' लेकिन चूँकि आत्मकथा की विधागत प्रकृति

को अतिक्रमित करता हुआ इसका स्वरूप लोकाख्यान का है, इसलिए इसकी संरचनात्मक निर्मिति घृणा व विद्वेष के आधार पर नहीं तैयार होती। एक प्रतिभाशाली कम वय के दलित बालक के प्रति सम्मान और सहानुभूति का भाव संकटा सिंह, बाबू साहब, बलराम सिंह, चिन्तामणि सिंह, महेन्द्र सिंह, रामवृक्ष सिंह, पारसनाथ पाण्डेय आदि में, और विशेष तौर पर हिन्दी–प्राध्यापक सुग्रीव सिंह में मिलता है जो गम्भीर संकट के क्षणों में कई बार उसके लिए रुपयों की आर्थिक सहायता लेकर तत्पर हो जाते थे।

'मुर्दहिया' लोकजीवन की अंतर्धारा में भुला दिये गये गुमनाम चरित्रों का एक सजीव अल्बम है – एक ऐसा 'अल्बम' जिसमें हमको एक ऐतिहासिक समय में सक्रिय रहे ऐसे जीवंत लेकिन आम चरित्र दिखायी देते हैं जिनको हमने भुला दिया है और जो विभिन्न स्थानीयताओं में अपनी संचरणशीलता के नाते वहाँ के जीवन में एक खास तरह का महत्त्व रखते थे। हिंगुहारा, पटहारा, चूड़िहारा, बंकिया डोम, जोगी, पग्गल आदि–आदि समाज की इस विकास प्रक्रिया में गाँवों, कस्बों की स्थानीय संस्कृति में विलुप्त हो रही वे मनुष्य प्रजातियाँ हैं जिनके 'जीवाश्मों' को हम मुर्दहिया में देख सकते हैं। इस एक खास दृष्टिकोण से 'मुर्दहिया' अपनी विशिष्ट लोकसंरचनात्मक शैली के भीतर कई आयामों में वैकल्पिक इतिहास–लेखन के स्रोतों की वैविध्यपूर्ण खोज को सम्भव बनाती है। लोकगीतों की उपस्थिति समाज की उस सृजनशीलता को रेखांकित करती है जिसमें राष्ट्रीय और सामाजिक महत्त्व के प्रश्नों से लेकर वैयक्तिक जीवन की ऐन्द्रिकता तक को अपनी एक खास सामाजिक समझ की बुनावट में सम्मिलित कर लिया गया है। 'हरिजन जाति सहै दुख भारी हौ', ललका झंडा मोटका डंडा कब उठइबा बलमू', 'दउरा दउरा भारत के किसनवा', 'हम्मै देदा वोट भैया हम्मै देदा वोट ', 'मं त हौं जवान मोर बलमा लरिकिइयां', 'बाबा विदा करौ', जैसे लोकगीतों और प्रयोग में लायी गयी अवधी लोकोक्तियों और मुहावरों से उस लोकजीवन की सर्जनात्मक मानसिक बुनावट को समझने में मदद मिलती है जो घटनाओं और परिस्थितियों पर अपने संवेगात्मक विचारों को सम्प्रेषण की एक लयात्मक मुद्रा में रूपांतरित करता था। इसी तरह राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में भोजपुरी समाज के भीतर एक दलित की आरंभिक स्मृति में मार्क्सवाद के प्रति लगाव और आर,एस.एस. व स्वामी करपात्री आदि को लेकर असमंजस कैसे बनता है, यह देखा जा सकता है। डंगरियार (डांगे) और नमरिया (नम्बूदरीपाद) की आंदोलनात्मक खबरों और हड़तालों के किस्से लोकजीवन के यथार्थ का हिस्सा बनने शुरू हो गये थे। नेहरू के समाजवाद का मॉडल समोही (सामूहिक) खेती के भोजपुरी अनुवाद में गाँवों तक पहुँच रहा था, और इन सब चीजों ने वैचारिक और भावनात्मक परिवर्तन की एक बेहद आरंभिक ही सही, लहर तो पैदा कर ही दी थी। आज के तेज जनसंचार माध्यमों

की तुलना में उससे बहुत दूर, जब कोई शहर से पचासों किमी. की साइकिल–यात्रा करके किसी एक घटना की कोई छोटी–सी खबर गाँव में लाता था, तो वह किसी युगांतकारी घटना से कम नहीं होती थी। आधुनिकता के इस सबसे निचले स्तर पर भी आलोडन–विलोड्न और परिवर्तन की छोटी–छोटी लहरें जन्म ले रही थीं, यद्यपि ये पर्याप्त नहीं थी और परिवर्तन की प्रक्रिया को द्रुततर करने में इनकी भूमिका बेहद सीमित थी। 'मुर्दहिया' इस सारी घट रही प्रक्रियाओं पर बहुत सूक्ष्मता के साथ दृष्टि को केन्द्रित करता है। एक ओर यदि इसने आधुनिकता की वैचारिक–प्रक्रिया के मद्धिम रूपांतरण को अपने अनुभव में दर्ज किया है जिसके नाते दलितों के सामाजिक जीवन में बदलावों की गति अपेक्षाकृत धीमी रही है तो दूसरी ओर वह आधुनिकीकरण की उस भयावह विडम्बना को भी अनावृत्त करता है जिसने दलितों के स्थानीय जीवन, उसकी स्मृतियों और देशज आधुनिकता से उसके सम्बन्धों का विच्छेद कर दिया है। समीक्षक चौथीराम यादव की एक प्रासंगिक टिप्पणी इस सन्दर्भ में यह है कि – 'अतः लेखक के लिए मुर्दहिया का उजड़ना कोई मामूली घटना नहीं, बल्कि ऐसा दर्दनाक हादसा है जो भूमंडलीकरण के अंधे दौर का दुष्परिणाम है। आधुनिकता की चकाचौंध में शहरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति स्थानीयता और देशज आधुनिकता को निगल लेने पर आमादा है। रुपये की खनक ने जिन्दगी की खनक को फीका कर दिया है। गरज कि मुर्दहिया उजड़ चुकी है, वहाँ के पशु–पक्षी, गिद्ध, कुत्ते, सियार, साही, खरगोश आदि विलुप्त हो गये हैं और दलित बस्ती से मजदूरों का विस्थापन तो शहरीकरण का सबसे दर्दनाक पक्ष है। इस विस्थापन में कलकत्ता जाने वाली रेलगाड़ी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जिसका रास्ता मुर्दहिया से होकर गुजरता है।''[2] आधुनिकीकरण से मोहभंग के अर्थ में यदि यह अम्बेडकर की मान्यताओं से विचलन है तो बौद्ध धर्म के स्वीकार और जीवन की घटनाओं से उसकी संगति के अर्थ में अम्बेडकर की मान्यताओं का विस्तार। याद नहीं आता कि अम्बेडकर के बौद्ध–धर्म में दीक्षित होने के बाद आधुनिक भारत में किसी दलित लेखक ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को जीवन की व्याख्या के रूप में इस तरह सर्जनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया हो। लेखक जीवन की कई घटनाओं व अनुभूति के सन्दर्भ में बुद्ध के दर्शन को तो याद करता ही है, सार्वजनिक अपमान और तिरस्कार के सन्दर्भों में भी बुद्ध की करुणा उसके तात्कालिक क्षोभपरक आवेग का शमन कर देती है। तालाब में नहाने से रोक का मामला हो या चमकटिया कहकर उपहास करने का, हर जगह यह करुणा उसके मानव–बोध को एक वृहत्तर धरातल पर स्थापित कर देती है।

वैसे कहने को तो 'मुर्दहिया' आत्मकथा है लेकिन आधुनिक साहित्य–सिद्धान्त का यह विधागत संस्कार मुर्दहिया में आकर टूट जाता है। लेखक के अपने जीवन की आपबीती होने के

कारण यह आत्मकथात्मक तो है ही, लेकिन अपने कलेवर व प्रभाव में यह धरमपुर की दलित बस्ती के लोगों का एक मार्मिक दस्तावेजी रिपोर्ताज भी है। लोकाख्यान की शैली होने के कारण इसमें एक जीवंत किस्सागोई भी है और स्थानीयताओं का वहाँ की भाषा और मुहावरे में खोज करती एक 'सबाल्टर्न' इतिहास–दृष्टि भी। यह सारा संश्लेष एक समीक्षक की दृष्टि में एक खास रचना की सृष्टि करता है – ''किस्सागोई की शैली में लिखी गयी इस आत्मकथा को पढ़ते समय यदि उपन्यास की–सी रोचकता का अहसास होता है तो यह उसकी विशिष्टता है। अकारण नहीं है कि किसी साहित्यिक विधा के पक्के ढाँचे का टूटना और अन्य विधाओं के साथ उसका संवाद करना उत्तरआधुनिकता का प्रमुख लक्षण है। कथा–आख्यायिका से संवाद करती इस आत्मकथा में कहानी के कहन की विशेषता, लेखक को अपनी दादी से विरासत में मिली है।''[3]

एक दलित जीवन के सन्दर्भ में मुर्दहिया की केन्द्रीय स्थापना है कि 'ज्ञान का कोई विकल्प नहीं होता है! ... बुद्ध की इन पंक्तियों को याद करते हुए और अम्बेडकर की प्रेरणा को हृदय में लिये हुए लेखक अपने को 'दीपक' के बिम्ब में ढालता हुआ ज्ञान की चिरंतन खोज की ओर प्रवृत्त रहता है। राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध दर्शन, मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, तुंग, अश्वघोष, शेक्सपीयर, गालिब और विश्व–साहित्य की ढेरों पुस्तकों और लेखकों की ओर जाती यह अंतहीन यात्रा है। विश्वबोध को व्यापक करने की, वैचारिक दृढ़ता की और अन्याय के खिलाफ संघर्ष की चेतना लेखक को इन पुस्तकों से ही मिलती है। दलित–संघर्ष का यह कोई 'शार्टकट' नहीं हैं, इसमें संघर्ष है, विचार के प्रति सम्मान है और मनुष्यता में द्वेषरहित आस्था है। यह एक ऐसे दलित की आत्मकथा है जिसके प्रति उसके माँ–बाप की सर्वोच्च आकांक्षा अधिक से अधिक उसे एक सिद्धहस्त 'मछमरवा' बनाने की थी लेकिन अदम्य संघर्ष और ज्ञान की ललक से वह उस उचित गर्व को हासिल करता है जहाँ यह कहा जा सके कि 'आज जब मैं अंतरराष्ट्रीय राजनीति के एक बड़े सेण्टर का प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हूँ, तो यह स्वीकारने में गर्व होता है कि इसके पीछे मेरी प्रेरणा के असली जनक वे तीन गरीब मजदूर थे जिन्होंने मुझे छोटी उम्र में अन्तरराष्ट्रीय राजनीति की तरफ अनजाने में ही खींचा था।'[4] दलित–समाज के सन्दर्भ में, प्रार्थना की शब्दावली की धूल को झाड़ते हुए कहा जा सकता है कि यह वास्तव में, अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ती हुई यात्रा है।

सन्दर्भ :

1. डॉ. तुलसीराम – मुर्दहिया, तद्भव–17, (सं.) अखिलेश, जनवरी, 2008, पृ. 184

2. चौथीराम यादव – रोती हुई संवेदनाओं की आत्मकथा, तद्भव–26,(सं.) अखिलेश, पृ. 289
3. चौथीराम यादव – रोती हुई संवेदनाओं की आत्मकथा, तद्भव–26,(सं.) अखिलेश, पृ. 289
4. डॉ. तुलसीराम – मुर्दहिया–4, तद्भव–19, (सं.) अखिलेश, जनवरी, 2009, पृ. 194